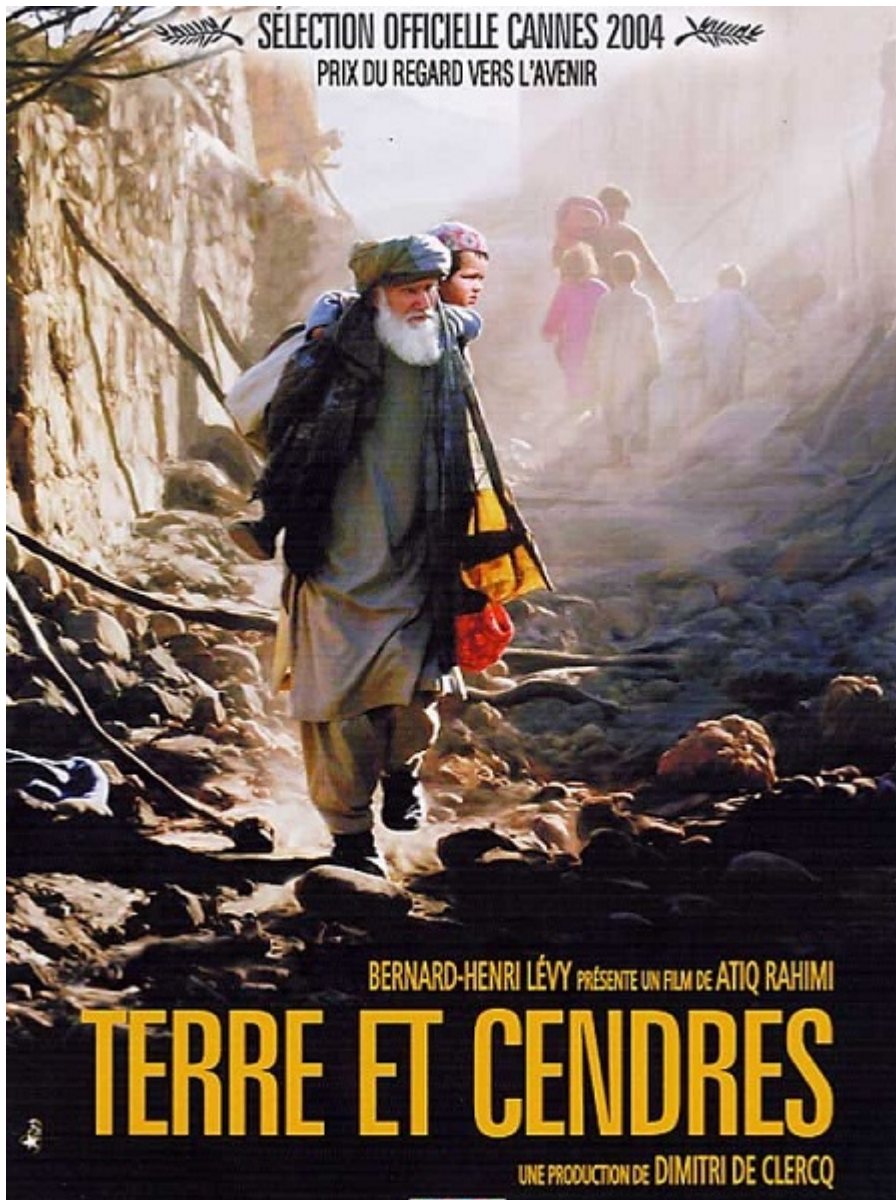


अफगानिस्तान का सिनेमा

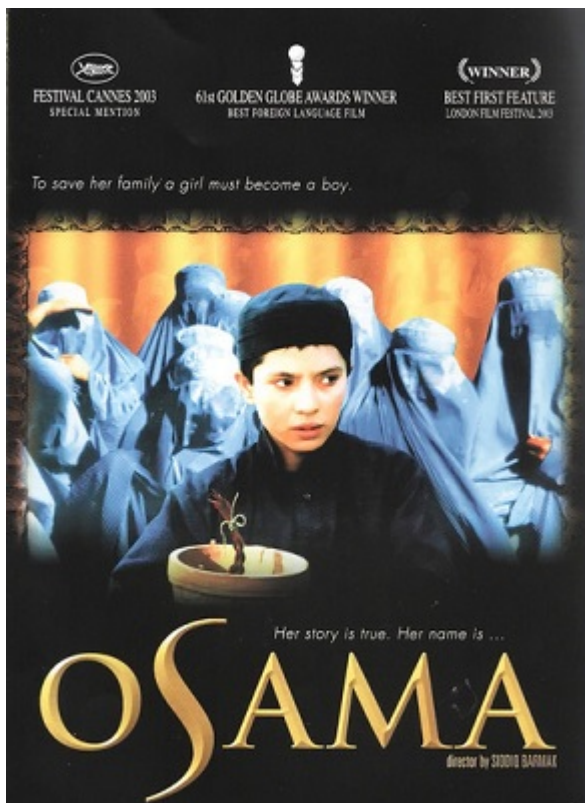
अफगानिस्तान के बारे में इस समय सारी दुनिया में चर्चा हो रही है। वहां तालिबान का कब्जा हो चुका है और सारी दुनिया अफगानिस्तान के भविष्य को लेकर चिंतित है।

अफगानिस्तान के सिनेमा के बारे में दुनिया भर में बहुत कम चर्चा होती है। आश्चर्य है कि भारत में भी इस बारे में कभी कोई खास बातचीत नहीं सुनी गई है जबकि अफगानिस्तान के साथ भारत के ऐतिहासिक और पौराणिक रिश्ते बहुत गहरे रहे हैं। रवींद्र नाथ टैगोर की कहानी 'काबुलीवाला' पर पहले बंगाली (1957) में तपन सिन्हा और बाद में हिंदी (1961) में हेमन गुप्ता सहित कई भारतीय निर्देशकों ने सफल फिल्में बनाई हैं। अफगानिस्तान में हालीवुड की 'द काइट रनर' (2007) से लेकर बालीवुड की 'धर्मात्मा' (फिरोज खान, 1975), 'खुदा गवाह' (मुकुल आनंद, 1992) 'काबुल एक्सप्रेस' (कबीर खान, 2006) और अनेक फिल्में बनती रही है। अफगानिस्तान में बनने वाली भारतीय फिल्में कभी उतनी अच्छी नहीं बनी जिससे उनकी चर्चा हो सके।



अफगानिस्तान में सिनेमा को लाने का श्रेय वहां के राजा (अमीर) हबीबुल्ला खान (1901-1919) को जाता है जिन्होंने सबसे पहले राज दरबार में प्रोजेक्टर से कुछ फिल्में दिखाई थी। प्रोजेक्टर को तब वहां ' जादुई लालटेन ' कहा जाता था। लेकिन आम जनता के लिए काबुल के पास पघमान शहर में पहली बार 1923 में एक मूक फिल्म के प्रदर्शन का जिक्र मिलता है। पहली अफगान फिल्म ' लव एंड फ्रेंडशिप (1946) ' मानी जाती है। उसके बाद वहां अधिकतर डाक्यूमेंट्री बनती रही जिसे भारत से आई फीचर फिल्मों से पहले दिखाया जाता था। 1990 में गृह युद्ध और 1996 में तालिबान के सत्ता में आने के बाद यहां सिनेमा बनाना और देखना पूरी तरह प्रतिबंधित कर दिया गया।

विश्व सिनेमा में यहां की फिल्मों की चर्चा तब शुरू हुई जब मशहूर फिल्मकार मोहसिन मखमलबाफ की फिल्म ' कंधार' (2001) दुनिया भर के करीब बीस से अधिक फिल्म समारोहों में दिखाई गई। इस फिल्म ने पहली बार एक लगभग भूला दिए गए देश अफगानिस्तान की ओर दुनिया भर का ध्यान खींचा। बाद में उनकी बेटी की फिल्म ' एट फाइव इन द आफ्टरनून ' (2003) भी दुनिया भर में चर्चित हुई जिसमें एक अफगान लड़की अपने परिवार की मर्जी के खिलाफ स्कूल जाती है और एक दिन अफगानिस्तान का राष्ट्रपति बनने का सपना देखती है। फिल्म का नाम मशहूर स्पेनिश कवि फेदेरिको गार्सिया लोर्का की कविता के शीर्षक से लिया गया है।



इन संदर्भों से आगे सच्चे अर्थों में यदि किसी अफगानी फिल्म ने विश्व सिनेमा में अबतक सबसे महत्वपूर्ण जगह बनाई है, वह है सिद्दिक बर्मक की ' ओसामा ' (2003)। इस फिल्म को न सिर्फ कान फिल्म समारोह सहित दुनिया भर के कई फिल्म समारोहों में पुरस्कार मिले, बल्कि इसने 39 लाख डालर का कारोबार भी किया। फिर अगले साल आती है अतीक रहीमी की फिल्म ' अर्थ एंड एशेज (

खाकेस्तार-ओ-खाक, 2004) जिसका वर्ल्ड प्रीमियर 57 वें कान फिल्म समारोह के अन सर्टन रिगार्ड खंड में हुआ। इसके बाद जिस फिल्म की चर्चा होती है, वह है ईरानी फिल्मकार वाहिद मौसेन की 'गोल चेहरे' (2011)।

इस समय अमेरिकी और मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के चले जाने और तालिबान के कब्जे के कारण अफगानिस्तान लगातार खबरों में बना हुआ है। तालिबान ने अफगान फिल्म उद्योग को लगभग तहस नहस कर दिया है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि अफगानिस्तान में बनी अधिकतर फिल्में तालिबानी कट्टरपंथी मुस्लिम विचारों के खिलाफ सिनेमाई प्रतिरोध है। सिद्दिक बर्मक की फिल्म 'ओसामा' तालिबानी शासन में एक तेरह साल की लड़की (मरीना गोलबहारी) की कहानी है जो अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए लड़का बनकर काम करती है और अपना नया नाम रखती है- ओसामा।

उसके परिवार में कोई मर्द नहीं बचा है। वह अपनी मां के साथ एक अस्पताल में काम करती थी जिसे तालिबानियों ने बंद कर दिया और औरतों के घर से बाहर निकल कर काम करने पर रोक लगा दी। जब वे लड़कों को पकड़ कर इस्लामी ट्रेनिंग कैंप भेजने लगे तो एक दिन ओसामा भी पकड़ लिया गया। कैंप में पीरीयड आ जाने से वह पकड़ा गया और तालिबानी उसे ठंडे कुएं में उलटा लटका देते हैं। अंततः एक बूढ़े अय्याश के साथ उसकी जबरदस्ती शादी करा दी जाती है। अंतिम दृश्य में हम देखते हैं कि गर्म पानी से भरे टैंक में बूढ़ा अय्याश नहा रहा है। टैंक के पानी से भाप उठ रहा है और पास में कैद ओसामा डर से थर-थर कांपती हुई सिसक रही है। औरतों और दूसरों के लिए तालिबानी शासन कैसा होगा, इसकी मिसाल इस फिल्म में हम देख सकते हैं।

ईरानी फिल्मकार वाहिद मौसेन की 'गोल चेहरे' (2011) एक सच्ची घटना पर आधारित है जिसमें लोगों ने जान पर खेलकर तालिबानियों के हमलों से कई दुर्लभ फिल्मों के प्रिंट बचाए थे। एक उन्मादी सिनेमा प्रेमी अशरफ खान गोल चेहरे नामक एक सिनेमा हॉल चलाते थे जिसे तालिबानियों ने जलाकर नष्ट कर दिया था। वे इस सिनेमा हॉल को दोबारा बसाना चाहते हैं। वे अफगान फिल्म आर्काइव के निदेशक की मदद से बड़ी मुश्किल से ईरान जाकर एक ऐसे आदमी को ले आते हैं जो फिल्में दिखाने के लिए प्रोजेक्टर लगा सकता है। सत्यजीत राय की फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' के प्रदर्शन से सिनेमा हॉल गोल चेहरे का उद्घाटन होता है। लेकिन जैसे ही फिल्म शुरू होती है, तालिबानी बम से सिनेमा हॉल को उड़ा देते हैं। वे अशरफ खान को मार देते हैं, फिल्म आर्काइव की सभी फिल्मों को जला देने का फतवा जारी करते हैं। रेड क्रॉस हास्पिटल में काम करने वाली एक विधवा डाक्टर रूखसारा आर्काइव की दुर्लभ फिल्मों को बचाने की योजना बनाती है। तालिबानी दौर के खौफनाक लम्हों में भी रूखसारा हिम्मत नहीं हारती। अमेरिकी फौजों द्वारा तालिबानियों के सफाए के बाद रूखसारा ईरानी सिने जानकार और अफगानी फिल्म आर्काइव के निदेशक की मदद से एक बार फिर गोल चेहरे सिनेमा हॉल का निर्माण करते हैं और सत्यजीत राय की फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' के प्रदर्शन से ही उसका उद्घाटन करते हैं। यह फिल्म यह भी बताती है कि अफगानिस्तान में भारतीय फिल्मों के प्रति कितनी दीवानगी है।

अतीक रहीमी की फिल्म 'अर्थ एंड एशेज' (2004) जिसका मूल नाम 'खाकेस्तार- ओ खाक' है, अब्दुल गनी के उम्दा अभिनय के लिए भी देखी जानी चाहिए जिसमें उन्होंने एक बूढ़े का किरदार निभाया है। अमेरिकी फौजों की बमबारी से तबाह हो चुके अफगानिस्तान में एक बूढ़ा दस्तगीर अपने पोते यासिन के

साथ सड़क किनारे बैठा किसी लंबी यात्रा के दौरान सुस्ता रहा है। यह धूल धूसरित सड़क कोयले की उस खान तक जाती है जहां दस्तगीर का बेटा काम करता है। बूढ़े दस्तगीर को अपने बेटे के पास पहुंच कर बताना है कि उनका गांव और परिवार बमबारी में नष्ट हो गए हैं। उस बूढ़े दस्तगीर के लिए यह यात्रा मुश्किलों भरी है। वह असह्य अकेलेपन और मिट्टी में मिल चुके अपने सम्मान के बीच फंसा है। इस यात्रा में उसे तरह तरह के लोगों का सामना करना पड़ता है जिसमें एक विक्षिप्त चौकीदार, दार्शनिक दुकानदार, अंतहीन इंतजार करती रहस्यमयी स्त्री और इस बेमतलब युद्ध से तबाह हुए लोग हैं जो कहीं जा रहे हैं। रात होते ही ठंड जानलेवा होने लगती है। बूढ़ा दस्तगीर ठंड से बचने के लिए लकड़ी की उस घोड़ा गाड़ी को ही जलाकर रात गुजारता है और दूसरी सुबह अपने पोते को घोड़े की पीठ पर बिठा पैदल ही चल देता है।

यह पूरी फिल्म अफगानिस्तान में चल रहे बेमतलब युद्ध से हुए विनाश में मनुष्यता को खोजने की सिनेमाई कोशिश है। अफगानिस्तान पर अमेरिकी बमबारी से क्षतिग्रस्त हुए पुल मकान सड़कों पहाड़ों को सचल लैंड स्केप की तरह फिल्मांकन में प्रयोग किया गया है जिससे फिल्म का अधिकार फ्रेम उत्कृष्ट कला कृति बन जाता है। फिल्म के बूढ़े नायक दस्तगीर की आंखें अतीत के यु हद्यों का बीता हुआ सब कुछ बिना बोले कह देती है जबकि उसके पोते यासीन की आंखों में देश का भविष्य देखा जा सकता है। एक दादा और पोते की आंखों के रूपक का सिनेमाई दृश्यों में रूपांतरण फिल्म की असली ताकत है। इस समय अफगानिस्तान में एक बार फिर तालिबानी शासन के आसार दिखाई दे रहे हैं। उनके पूरे तरह सत्ता में आते ही वहां की कला, साहित्य, सिनेमा और सेक्युलर संस्कृति के खत्म हो जाने का खतरा पैदा हो गया है।

(लेखक प्रतिष्ठित फिल्म समीक्षक हैं व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बनने वाली फिल्मों के जानकार हैं)